

आचार्य कुंदकुंद की आत्मदृष्टि : एक चिंतन

हुकुमचंद संगवे

आचार्य कुंदकुंद की गणना उच्चस्तरीय, शीर्षस्थ, युग-प्रधान जैनाचार्यों में की जाती है। महावीर भगवान् और गणधर गौतम को मंगल कहा गया है। आचार्य कुंदकुंद का नाम भी गौतम गणधर के अनन्तर मंगलरूप में आता है। क्योंकि उन्होंने आत्मा को विश्वजीवन का केन्द्र बिन्दु मानकर अपनी समस्त कृतियों का सृजन किया है। आचार्य कुंदकुंद ने आत्मा-स्वरूप का विभिन्न दृष्टिकोणों से कथन किया है। दृष्टिकोणों के अनुरूप ही स्वरूप का निरूपण भी किया है। अनादिकाल से कर्ममलों से युक्त आत्मा को उन्होंने संसारी आत्मा कहा है, और यह भी कहा कि यही संसारी आत्मा समस्त कर्मफल से रहित होकर शुद्धात्मा की निर्मल दशा को प्राप्त कर सकता है। अनेक संसारी जीव अनादिकाल से कर्मों से संयुक्त हैं। वे सब संसारी आत्मा अपने पुरुषार्थ से कर्ममल को दूर कर सकते हैं। संसारी आत्मा परमात्मरूप शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त कर सकता है। आत्मा अनन्तानन्त गुणों से युक्त है। आत्मा के गुणों की प्रकटता, समस्त कर्मों की निर्जरा होने पर स्वतः ही होती है। संसारी आत्माओं को उन्होंने भव्य और अभव्य इन दो भेदों में वर्गीकृत किया है।^१ भव्यात्मा वे हैं जिनमें यह क्षमता है कि वे समस्त पूर्व कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष को प्राप्त कर सकें^२। अभव्य आत्माएं वे हैं जो किसी भी काल में, किसी भी देश में अथवा किसी भी अवस्था में मोक्ष या सिद्धावस्था को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इस प्रसंग में उन्होंने सम्यक् दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का प्ररूपण किया है। व्रत, संयम, गुप्ति, समिति, शील एवं तप पर ही जिसकी दृष्टि स्थिर है और जो ये बाह्य क्रियाएं ही करता है उसकी दृष्टि मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि मोक्षादि तत्त्वों पर वह श्रद्धा नहीं करता है। वह भगवान् द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों पर अपनी दृष्टि स्थिर नहीं करता। मोक्षतत्त्व की यथार्थ दृष्टि संपादित करने के लिए सम्यग्दर्शन का होना आवश्यक माना गया है। अभव्य जीव अज्ञानी है और भव्यजीव ज्ञानी है। वही मुमुक्षु है। संसार का आवागमन चक्र शुद्धोपयोगरूप धर्म में श्रद्धान करते हुए सांसारिक भोग उपभोग में लीन होना है वह जो कर्म क्षय के कारणभूत शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं होता, शुद्धोपयोगरूपधर्म में श्रद्धा नहीं करता है, इसलिए उसका संसार में आना-जाना बना रहता है।^३

अभव्य जीव धर्मश्रवण, जिनोपदेश को ग्रहण तो करता है परंतु अपनी वह मिथ्या मान्यता को, मिथ्यात्व स्वभाव को त्यागता नहीं है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि उसका यह व्यवहार ठीक वैसा ही है जैसे गुड़ मिश्रित दूध का सेवन करने वाले सर्प का। क्योंकि वह कभी भी विष

१. पंचास्तिकाय : गा० १२०

२. वही : गा० १०६.

३. समयसार : गा० १७३.

रहित नहीं हो सकता।^१ दूध तो पीता है, जिन भगवंत-उपदेश का तो करता है अपितु सर्प की भाँति गरल, मिथ्यारूप विषको को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। अभव्यात्मा के विपरीत पूर्णतः भव्यात्मा है। वह सम्यक् भावना से युक्त होकर भगवंत का उपदेश सुनता है। उसके अनुरूप आचरण करता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मों का क्षय करते हुए आत्मा के स्वाभाविक अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतबल और अनंतसुख को प्राप्त करता है। कर्मफल से विमुक्त होने पर यह आत्मा परमात्मा बन जाता है। आचार्य द्वारा प्रतिपादित यह वर्गीकरण, (भव्य-अभव्य आत्मा) यह दर्शाता है कि यह संसार कभी भी जीवों से खाली नहीं होता। भव्यात्मा मुमुक्षु मोक्ष प्राप्ति करने में समर्थ है, अन्य नहीं।^२

सामान्यतः जीव का लक्षण इस प्रकार से करते हैं—इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास-प्राण से जो युक्त है वह जीव है। यह लक्षण बाह्य या व्यवहार दृष्टि से योग्य है निश्चय से चेतना और उपयोग से जो युक्त है, उसे जीवद्रव्य कहते हैं। उपर्युक्त चारों प्रायः व्यवहार की अपेक्षा से जीव के लक्षण हैं। निश्चय से तो चेतना और उपयोग ही लक्षण है। निश्चय से मुक्तात्मा इन प्राणों द्वारा जीवित नहीं रहता अपितु उसमें जीवद्रव्य का असद्भाव नहीं रहता।^३ अर्थात् जो बल, इन्द्रिय, आयु और श्वासोच्छ्वास प्राणों से वर्तमान में जीवित है, भविष्य में जीवित रहेगा और भूत में वह जीवित था, वह जीव है।^४ इस लक्षण से आचार्य यह बतलाना चाहते हैं कि, जीव या आत्मा अनादि तथा अन्त रहित है ये लक्षण तो व्यवहार से आत्मा में चेतना और उपयोग है मुक्तावस्था में स्थित आत्मा में रहता ही है।

चार प्राणों से युक्त जीव 'पहले जीवित था' इससे आचार्य यह सूचित करना चाहते हैं कि "मुक्तावस्था के पूर्व यह जीव चार प्राणों द्वारा जीवित था, क्योंकि मुक्तावस्था में जीव के इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास प्राण नहीं होते।" आचार्य ने अपने ग्रंथों में जीव तथा आत्मा शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है और विभिन्न स्थलों पर जीव एवं आत्मा के लक्षण, स्वरूप और भेदों का प्रतिपादन किया है। इस विवेचन के आधार पर हमें यह जान लेना चाहिए कि जीव एवं आत्मा एकार्थवाचक हैं और एक ही जीवद्रव्य की अभिव्यक्ति की है, तथापि पर्याय-वाची इन शब्दों का उपयोग कुछ स्थलों पर संदर्भानुरूप किया गया है। एकेन्द्रियजीव, द्वीन्द्रिय-जीव का उल्लेख मिलता, परंतु एकेन्द्रिय-आत्मा, द्वीन्द्रिय आत्मा ऐसा प्रयोग देखने में नहीं आता। उपदेशपरक कथन में भी यही देखने को मिलता है कि अपना उपयोग आत्मा में स्थिर करो, किंतु अपने जीव में उपयोग केन्द्रित करो ऐसा देखने को नहीं मिलता।^५ आत्मसाधना एवं आत्म-चिंतन ही जीव का अन्तिम लक्ष्य है। इससे यही लक्षित होता है कि जीव शब्द चार प्राणों के धारक संसारी जीव के लिए प्रयुक्त हुआ है और मुक्तात्मा में इनके न होने के कारण 'आत्मा' शब्द का प्रयोग ही देखने में आता है। जीव की दृष्टि सांसारिक मानी जाय तो

१. भावपाहुड : गा० १३८.

२. पंचास्तिकाय : गा० १६३. तत्त्वदीपिका टीका

३. तत्त्वार्थराजवार्तिक : १।४।७.

४. प्रवचनसार : गा० २।५५.

५. अष्टपाहुड : पृ० ५१-५२; सुत्तपाहुड : गा० १५-१६; प्रवचनसार : गा० २।१०८.

इसमें कोई भी अतिशयोक्ति नहीं हो सकती। 'आत्मा' शुद्धात्मा के लिए कहा गया है। आचार्य ने आत्मा को लक्ष्य या साध्य के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है। मुमुक्षु-जीव की समस्त शुभ-शुद्ध क्रियाओं को इस लक्ष्य-साध्य की प्राप्ति में साधनभूत कहा है। आचार्य जीव को बार-बार संबोधित करते हैं कि अपना उपयोग आत्मा में केन्द्रित करो, परसमय का त्याग कर स्वसमय में लीन रहो। वास्तव में देखा जाय तो जीव और आत्मा में कोई अन्तर नहीं। कथन मात्र से भेद मालूम होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा जीव की सर्वोच्च स्थिति का परिचायक है। उसकी प्राप्ति करना जीव की परम साधना का इष्ट है। जीव कर्म से युक्त है और शुद्धात्मा कर्मफल से मुक्त है।

आचार्य कुंदकुंद आत्मा के अस्तित्व के बारे में कहते हैं कि वह स्वतः सिद्ध है। अपने अस्तित्व का ज्ञान प्रत्येक जीवों को सदैव रहता है। जीव स्व और पर को जानता है, देखता है। सुख चाहता है, दुःख से वह भयभीत है। वह शुभ या अशुभ भाव और कर्म का करता है और शुभाशुभ क्रियाओं को भोगता है।^१ जीव यही जानता है कि मैं देह से भिन्न हूँ। मेरा शरीर, मेरा घर है, मैं यह कर रहा हूँ। यह मैं और मेरा सर्वनाम जीव का अस्तित्व सिद्ध करने में स्वतः समर्थ है। प्रकारान्तर से आचार्य कहते हैं “जो चैतन्य आत्मा है, निश्चय से वह “मैं हूँ” इस प्रकार आत्मा, अपनी प्रज्ञा द्वारा ग्रहण योग्य है और समस्त भाव मुझसे भिन्न हैं, परे हैं। यह ज्ञान स्व और पर के विभाजन के बिना नहीं हो सकता। जीव अजीव से भिन्न है। वह जड़ नहीं है। वह चेतनामय एवं उपयोगमय है।^१ जीव शुद्ध और अशुद्ध दशा में क्यों न हो, वह प्रत्येक दशा में चेतनारूप उपयोग में परिणमन करता है। उन्होंने जीव की चेतना को तीन प्रकार की मानी है—ज्ञान चेतना, कर्म चेतना और कर्मफल चेतना।^२

स्वपर भेद लिये हुए जीव का जीव, अजीव, आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप पदार्थों का उस उस स्वरूप में जानना ज्ञान है। आत्म का जो ज्ञानभाव रूप परिणाम है उसे 'ज्ञानचेतना' कहा है। जीव के द्वारा किये गये सभी भाव कर्म कहलाते हैं। जीव पुद्गल कर्म के निमित्त से प्रत्येक समय में जो शुभाशुभ भाव—भावकर्मरूप परिणमन करते हैं उसे कर्म चेतना कहा गया है। सुख और दुःख कर्म का फल है। फल कर्म के अनुभवन में होता है उसे कर्मफल चेतना को कहा गया है।^४ कर्मफल चेतना द्वारा आत्मा की उपस्थिति जानी जा सकती है। इन्द्रियाँ आत्मा का बहिरंग रूप प्रकट करती हैं। द्रव्य और भाव रूप से कर्म के दो भेद हैं। भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनों अन्योन्यरूप में प्रकट हैं। भाव कर्म की अनुपस्थिति में “मैं आत्मा हूँ” यह जानना भी संभव नहीं हो सकता। शरीर और इन्द्रिय से भिन्न मन के माध्यम से देखने और जानने वाला “मैं हूँ”—यह ज्ञान भाव एवं कर्म से ही होगा। संकल्प तो भावरूप है। इन्द्रियों की तुलना में यह भाव सूक्ष्म है।

१. पंचास्तिकाय : गा० १२२

२. प्रवचनसार : गा० २।३५

३. वही : गा० २।३१

४. वही : गा० २।३२ और पंचास्तिकाय : गा० ३८

भावरूप आत्मा का अनुभव करते समय आत्मा और शरीर में भेद अपने-आप स्थापित हो जाता है। भावकर्मचेतना स्वसंवेदनगोचर है। इसी स्वसंवेदनगोचरता से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। स्वतः उसकी सत्ता का अवबोध उसे होता है। अपनी शुद्धतमावस्था में आत्मा भावकर्मों एवं द्रव्यकर्मों से संपूर्णतः रहित है। इसी अवस्था में केवलज्ञान प्रकट होता है। उसे परमात्मा कहा गया है। इसी दृष्टि से आचार्य ने ज्ञानचेतना का परिणमन करने वाले जीव को परमात्मा कहा है।^१ आत्मा चेतना और उपयोगमय है। आत्मा के चैतन्य अनुभव को उपयोग कहा है।^२ हम इस प्रकार जान सकते हैं—वस्तु का स्वरूप जानने के लिए जीव का जो भाव है वह उपयोग है। उपयोग, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग रूप दो प्रकार का है।^३ आत्मा का उपयोग स्वयं में शुद्ध होता है। इसी उपयोग को मोह का उदय मलीन करता है। उसे अशुद्धोपयोग कहते हैं। शुभ और अशुभरूप अशुद्धोपयोग कर्मबंध का कारण माना गया है। अतएव आत्मा के साथ परद्रव्य के संयोग में यही उपयोग कारणभूत है। कर्मबंध से युक्त जीव शरीरधारी है। वह संसारी जीव कहलाता है। उसके विपरीत जो जीव कर्मबंध से मुक्त है और जिसने अपनी सहज स्वभाव शुद्धता प्राप्त कर ली है वही आत्मा संसार चक्र से विमुक्त है, सिद्धजीव है। संसारी और मुक्त जीवों का विभाजन जैन दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। संसारी जीव के पुनः दो भेद देखने में आते हैं एक स्थावर और दूसरा त्रस। एकेन्द्रिय को स्थावर कहा है और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय को त्रस। त्रस जीव के देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति और नरकगति चार भेद हैं। संसारी जीव सतत संसरण करता रहता है और भावी गति का बंध वर्तमान पर्याय को छोड़ने के पूर्व ही कर लेता है। वर्तमान पर्याय की आयु का क्षय हो जाने पर तैजस और कामंश शरीर के साथ दूसरी पर्याय अथवा गति में गमन करता है। इस प्रकार एक अवस्था छोड़ दूसरी पर्याय धारण करता है और दूसरी पर्याय को छोड़कर अन्य पर्याय को धारण करता है। इस प्रकार जीव उत्पाद और व्यय के साथ ही साथ जीव द्रव्य का ध्रौव्य बना रहता है। आत्मा का यह संसारभ्रमण अनादि काल से चला आ रहा है। जैन दार्शनिकों ने जीव को अनादि अनन्त माना है। इसी अनादि चक्र का अन्त करने में जो जीव समर्थ है, वही आत्मा परमात्मस्वरूप धारण करने में भी समर्थ है।

यदि जीव को अनादि न माना जाय तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा और उसे अनन्त न मानने पर द्रव्य का ध्रौव्य गुण नष्ट हो जाएगा। संसारी और मुक्त जीवों में द्रव्य दृष्टि से देखा जाय तो कोई अंतर नहीं है। पर्याय दृष्टि से उनमें जरूर अंतर है। हाँ, यह अंतर वह अपनी पुरुषार्थ से मिटा सकता है। आत्मा परमात्मा बन सकता है। प्रत्येक जीव अपने-अपने विकास क्रम में अपने कर्म के स्तर के अनुरूप स्वयं ही ज्ञाता, भोक्ता और कर्ता होता है। जीव उपयोगमय, अमूर्त, कर्ता, भोक्ता, स्वदेहपरिमाण, संसारी, सिद्ध तथा ऊर्ध्वगमनवाला है। इन्हीं विशेषणों से युक्त आत्मा का जो प्रतिपादन आचार्य ने किया, उससे अपने आप चार्वाक, वैशे-

१. पंचास्तिकाय : पृ० ३८-३९

२. सर्वार्थसिद्धि : २।८. उभय निमित्तवशाद्.....

३. पंचास्तिकाय : गा० ४०

षिक, नैयायिक, सांख्य, माण्डलिक इतर दार्शनिक मतों का अपने आप खंडन हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि आत्मा अपने गुणों से एक क्षणमात्र पृथक् नहीं रह सकता। द्रव्य के अभाव में गुण और गुण के अभाव में द्रव्य का अस्तित्व मानना संभव नहीं है। आत्मा में ज्ञान और ज्ञान में आत्मा सहज है। समवाय संबंध से नहीं है। संसारी जीवों द्वारा इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान को परोक्ष और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है।

इस प्रकार आत्मज्ञान और आत्मदृष्टि का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि निश्चयदृष्टि से देखा जाय तो आत्मा विशुद्ध है। वह समस्त द्रव्यों से पूर्णतः मुक्त है, वह अपने ही चतुष्टय में स्थित है। उसकी एक अपनी स्वतंत्र सत्ता है। वह अपनी शुद्धावस्था में ज्ञाता, द्रष्टा है। इच्छा, आशा, कामना आदि समस्त संकल्प-विकल्प से रहित है। इसी स्थिति में यह आत्मा अपने ज्ञान गुण में स्थित है। संसारी आत्मा एवं मुक्तात्मा में इस दृष्टि से कोई फरक नहीं है। दोनों का वैभव और ज्ञान की महत्ता समान है। अन्तर केवल यह है कि मुक्तात्मा के गुण पूर्णतः व्यक्त है, जब कि संसारी आत्मा के गुण कर्मावरण के कारण अत्यंत अंश रूप में प्रकट हैं। पुद्गलादि समस्त परद्रव्य का जीव के साथ संयोग संबंध होता है। तादात्म्य संबंध नहीं है। वे जीव से सर्वथा भिन्न हैं। उन्हें एकत्व के रूप में मानना मिथ्या-मान्यता है। आचार्य कुंदकुंद ने आत्मा को विभिन्न वर्गों में बांटा है। यह वर्गीकरण अपेक्षाकृत है। मोक्ष प्राप्ति की अपेक्षा से जीव को भव्यजीव एवं अभव्यजीव—दो प्रकार का कहा है। संसारी और मुक्तजीव को शुद्ध-अशुद्ध अवस्था की अपेक्षा से वर्गीकृत किया गया है, जीव दस प्राणों से जाना जाता है अतः प्राणों की अपेक्षा से दस भेद हो गये हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा से पाँच भेद किए गये हैं। संसारी जीव को त्रस एवं स्थावर अशुद्धात्मक अवस्था के कारण दो प्रकार का कहे हैं। हेय क्या और उपादेय क्या? इसकी चर्चा करते हुए—बहिरात्मा अन्तरात्मा एवं परमात्मा—ये जीवों के तीन भेद गिनाए हैं। शुद्ध उपयोग, अशुद्ध उपयोग, शुभोपयोग की अपेक्षा से भी तीन भेद देखने में आते हैं। इन भेद-उपभेदों पर दृष्टि डालने पर ऐसा लगता है कि आचार्य ने व्यवहारनय का आधार लेते हुए जीव के वास्तविक स्वरूप को बोधगम्य बनाया है। आचार्य ने व्यवहारनय को अयथार्थ और निश्चयनय को यथार्थ कहा है। कारण कि निश्चयनय से आत्मा के स्वभाव पर्याय का ज्ञान होता है और व्यवहारनय की दृष्टि विभाव पर ही स्थिर रहती है। अपने द्वारा अपना स्वभाव ही उपादेय है। विभाव हेय है। यही उन्हें बतलाना है। क्योंकि जीव संसारी है। संसारी जीवों के सन्मुख शुद्धात्मस्वरूप का प्रतिपादन करना ही उनका प्रयोजन है। इससे संसारी आत्मा विशुद्धात्मा के स्वरूप को जान सके। आत्मा अनंतगुणी है। समस्त गुणों का वर्णन करना असंभव है। आत्मा के स्वरूप को अनिर्वचनीय कहा है।

आचार्य ने अपनी समस्त कृतियों में तत्त्व, अर्थ-पदार्थों का निरूपण जैन दार्शनिक दृष्टियों से करते हुए आत्म-स्वभाव का निरूपण प्रधान रूप से किया है। वही उन्होंने उपादेय माना है। शेष द्रव्य जानें या न जानें इससे अपनी स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती। स्वद्रव्य का स्वसमय में रहना और जानना प्रमुख है। परसमय की उन्हें चिन्ता नहीं थी। सम्यग्दर्शन-ज्ञान का प्ररूपण करते हुए उन्होंने कहा—आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानना ही सम्यग्दर्शन एवं ज्ञान है। इन्हीं दो का प्ररूपण करते समय वे सम्यक्चारित्र का प्रतिपादन करना भूले नहीं, क्योंकि सम्यक्चारित्र के अभाव में मोक्ष लाभ होना असंभव है। अतएव आचार्य कुंदकुंद सम्यग्दर्शन-

ज्ञान, चारित्र्य की युगपत् प्राप्ति को मोक्ष मार्ग मानते हैं। वे यह सब वर्णन करते तो हैं परन्तु इससे हमें यह ज्ञात होता है उन्हें आत्मा के वास्तविक स्वरूप की ओर जीव को उन्मुख करना ही इष्ट है। आत्म-स्वरूप वर्णन प्रमुख और शेष वर्णन या विवेचन गौण है। उनकी रचनाओं का हम अध्ययन करते हैं तो ज्ञात होता है कि उनका एकमात्र उद्देश्य आत्मलाभ ही है। आत्म स्वरूप विवेचन एवं उसके भेद-प्रभेद के वर्गीकरण के माध्यम से आत्म निरूपण ही उनका प्रमुख उद्देश्य रहा है। आत्मा को जो जानता है वह सब जानता है। यही उनकी दृष्टि रही होगी।

आचार्य ने षड्द्रव्यों को प्रथमतः बहुप्रदेशी एवं एकप्रदेशी अस्तित्व वाले द्रव्यों में वर्गीकृत किया है। काल द्रव्य को छोड़कर शेष द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। समस्त लोक का निर्माण पंचास्तिकाय से होने के कारण आचार्य इन्हें “समय” भी कहते हैं उन्होंने पंचास्तिकाय का समापन करते हुए पंचास्तिकाय संग्रह को ‘प्रवचनसार’ कहा है।^१ इसके प्रति सम्यक् श्रद्धान से आत्म-ज्ञान हो सकता है। यही विशुद्ध ज्ञान आत्मज्ञान है। समय या आत्मा ही लोक में सारभूत है।

आचार्य कुंदकुंद ने अपने समस्त कृतियों में आत्मा का प्रतिपादन प्रधान रूप से किया है। वही एकमात्र जानने योग्य है। उन्होंने यही कहा है कि जो एक आत्म तत्त्व को जानता है वह विश्व तत्त्वों की समस्त पर्यायों को जानता है। जो इसी एक आत्मा को नहीं जानता वह और किसी को भी नहीं जानता।

आचार्य कुंदकुंद ने अपनी कृतियों में आत्मप्रतिपादन निश्चय और व्यवहारनय से किया है। उन्होंने बड़ी कुशलता से व्यवहार और निश्चय का प्रतिपादन करते हुए आत्मतत्त्व का निरूपण किया है और अन्त में यही कहा है कि आत्मा उपादेय है और शेष हेय है। सद् द्रव्य ध्रुव है, असत् का कभी भी उत्पात नहीं होता। इसी कारण उन्होंने नियम को माना है। अतीत, अनागत एवं वर्तमान पर्याय हैं, वे सब ज्ञेय हैं, इसे आत्मा जानता है। ये सब सर्वज्ञ के ज्ञान का विषय है। ज्ञान और द्रष्टा रहना यह ज्ञाता आत्मा का परम लक्ष्य है। उन्होंने केवली को ज्ञाता-द्रष्टा कहा है वे अपने निजस्वरूप अर्थात् अपने ही आत्मतत्त्व को जानते हैं। अन्य पदार्थों के वे ज्ञाता हैं, लेकिन यह व्यवहार कथन मात्र है। वास्तव में केवल आत्मज्ञ है, सर्वज्ञ है।^२ आत्मा ही उपादेय है। यही आत्मतत्त्व स्वरूप-निरूपण में वे मानते आए हैं। आचार्य कुंदकुंद ने आत्म-ज्ञान को परमज्ञान माना है।



अर्धमागधी विभागाध्यक्ष
बालचन्द्र कला व विज्ञान महाविद्यालय
सोलापुर-२

१. पंचास्तिकाय : गा० १७३.

२. नियमसार : गा० १५८.